भगवान श्री आदि शंकराचार्य रचित

व्याख्याकार

स्वामिनि अमितानन्द सरस्वती

खण्ड - २

अनुक्रममणिका

श्लोक सं.	विषय	पृष्ठ सं.
१२.	स्थूल शरीर का वर्णन	२
१३.	सूक्ष्म शरीर का वर्णन	३
१४.	कारण शरीर का वर्णन	४
१५.	शुद्ध आत्मा पर पंचकोशों का आरोपण	५
१६.	आत्मा और पंचकोश विवेक	६
१७.	शुद्ध अन्तःकरण से ही आत्मा का साक्षात्कार	७
१८.	आत्मा की साक्षी स्वरूपता	८
१९.	अध्यास निरूपण	९
२०.	आत्मा की सन्निधि से उपाधि में चेतनता का आभास	१०
२१.	अविवेक से ही आत्मा में देहादि का अध्यास	११
२२.	अज्ञानवशात् आत्मा में जीवभाव की कल्पना	१२

संगति :- वस्तुतः हम सदैव नित्य-मुक्त एवं परिपूर्ण स्वरूप है। शरीर आदि उपाधियों के धर्मों को अपने उपर अज्ञानवशात् आरोपित करने के द्वारा ही अपने आपको जाति आदि से युक्त एक सीमित व्यक्ति मान लेते है। तदुपरान्त जीवन भर एक निराधार प्रवृत्ति चलती रहती है, और वह है कि अपनी कल्पनाओं से जनित परिच्छिन्नताओं की निवृत्ति के लिए कर्म का आश्रय लेते है, जैसे भूत को भगाने के लिए कोई ड़ंडे का आश्रय लें। जिस उपाधियों के धर्मों का अपने उपर आरोपण किया हुआ है, उन उपाधियों का क्या स्वरूप है? इसे समझने के लिए आचार्यश्री आगे के तीन श्लोकों में उपाधियों की उत्पत्ति एवं कार्य के बारे में बता रहे है।

श्लोक - १२

पंचीकृतमहाभूत सम्भवं कर्मसंचितम्।
शरीरं सुखदुःखानां भोगायतनमुच्यते।।

अन्वयार्थ :- **पंचीकृत महाभूत** - स्थूलीकरण को प्राप्त महाभूतों से, **कर्मसंचितम्** - पूर्वकर्मो से, **सम्भवं** - निर्मित, **शरीरं** - शरीर, **सुखदुःखानां** - सुख दुःख के **भोगायतनम्** - भोग का साधन, **उच्यते** - कहा जाता है।

श्लोकार्थ :- पंचीकृत महाभूतों से निर्मित हुआ, पूर्व कर्मो की वजह से प्राप्त यह स्थूल शरीर सुख दुःख के अनुभवों का साधन अथवा भोग का आयतन कहा जाता है।

व्याख्या :- हमने जिन जिन उपाधियों के धर्मों का अपने उपर आरोपण किया हुआ है वे सब ही त्रिशरीरों के धर्म हैं। शरीर शब्द का अर्थ होता है - शीर्यते इति शरीरः। अर्थात् जिसमें क्षय एवं नाश आदि विकार होते है, वह शरीर है। जो हमारे तीन शरीर हैं उनके नाम है : स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर एवं कारण शरीर। उसमें से प्रथम दो शरीर कार्यरूप है और तीसरा उनके कारण की तरह से है। ये दोनों ही पंचमहाभूतों से बने हुए हैं।

इन दोनों शरीरों में से प्रथम शरीर के बारे में उपरोक्त श्लोक में चर्चा है। आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी - ये पंच महाभूत सृष्टि की उत्पत्ति, उत्पत्ति के समय क्रमबद्ध तरीके से होती है। पहले ये महाभूत सूक्ष्म होते है, और उस समय इसे तन्मात्रा भी कहा जाता है। सूक्ष्म वह होता है, जिसे इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य नहीं किया जा सकता हो। ये सूक्ष्म महाभूत माया के कार्य हैं अतः इन सभी में माया के तीनों गुण विद्यमान होते हैं। महाभूतों के तीनों गुणों से अलग-अलग पदार्थ उत्पन्न होते हैं। पांचों महाभूतों के तमोगुण के अंशों में एक मिश्रीकरण की प्रक्रिया होती है जिसे पंचीकरण कहा जाता है। इस प्रक्रिया से इन पंचमहाभूतों का स्थूलीकरण हो जाता है। ऐसे महाभूतों को पंचीकृत महाभूत कहा जाता है, तथा इन्हीं से हम लोगों का स्थूल शरीर बनता है।

कोई भी स्थूल शरीर का प्रकार जीव के पूर्व में किये हुए कर्म के उपर निर्भर करता है। शरीर की प्राप्ति का निश्चित प्रयोजन होता है। हमने जो भी पूर्व में कर्म किये होते है, उनके फल भोगने के लिए ही उचित शरीर प्राप्त होता है। स्थूल शरीर विविध अनुभूतियां अर्थात भोग प्राप्त करने के लिए आयतन अर्थात स्थान होता है, अतः इसे भोगायतन कहा जाता है। जैसे किसी काउन्टर पर बैठकर किसी वस्तु आदि की लेन-देन की जाती है। उसी प्रकार इस शरीर के कान, आंख आदि के गोलक रूपी काउन्टर में बैठकर जीव बाह्य विषय एवं परिस्थिति आदि को ग्रहण करने के द्वारा सुख दुःख भोग करता है।

विविध शरीरों में मनुष्य शरीर की प्राप्ति तो विशेष पुण्य के कारण होती है। यह प्रभु की कृपा का प्रतीक है, क्योंकि इसे धारण करके तत्व-ज्ञान का सामर्थ्य भी प्राप्त हो जाता है। यह स्थूल

शरीर स्थूलपंचमहाभूत का बना हुआ, भोग का आयतन है, अतः दृश्य तथा जड़रूप है। ऐसे शरीर के धर्मों को अपने उपर आरोपित करने से ही अपने आपको जन्म-मरणवान् तथा विकारी मानने लगते है। यह हमारा मोह ही हमारे सुख-दुःख का कारण बनता है।

श्लोक - १३

संगति :- पिछले श्लोक में हमारे तीन शरीर में से स्थूल शरीर का हमें परिचय दिया गया। यह स्थूल शरीर पंचमहाभूत का बना हुआ, भोग का आयतन है। अब आचार्यश्री हमें सूक्ष्म शरीर का परिचय प्रदान कर रहे हैं।

पंचप्राणमनोबुद्धिः दशेन्द्रियसमन्वितम्।
अपंचीकृतभूतोत्थं सूक्ष्मांगं भोगसाधनम्॥

अन्वयार्थ :- **पंचप्राणमनोबुद्धिः** - पांच प्राण, मन और बुद्धि **दश इन्द्रिय समन्वितम्** - दस इन्द्रियां सहित, **अपंचीकृतभूत-उत्थं** - सूक्ष्म भूतों से उत्पन्न, **सूक्ष्मांगं** - सूक्ष्म शरीर, **भोगसाधनम्** - भोग का साधन है।

श्लोकार्थ :- पांच प्राण, पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, मन और बुद्धि इस प्रकार सत्रह वस्तुओं के समूहरूप अपंचीकृत महाभूतों से निर्मित हुआ यह सूक्ष्म शरीर सुख दुःख के अनुभवों का साधन है।

व्याख्या :- अपने वास्तविक तत्व से अनभिज्ञ जीव अपनी विविध उपाधियों में आत्मबुद्धि उत्पन्न कर अपने को छोटा एवं विकारी जानकर संसरित एवं दुःखी होता है। उपाधियों को उपाधि जान लेने मात्र से उनमें आत्मबुद्धि समाप्त हो जाती है। उपाधियों के अध्ययन के इस प्रसंग में आचार्यश्री हमें बता रहे हैं कि हम अपनी समस्त उपाधियों को तीन शरीरों में विभाजित कर सकते हैं। स्थूल शरीर की चर्चा करने के उपरान्त अब सूक्ष्म शरीर की चर्चा प्रारम्भ करते हुए आचार्य कहते हैं कि यह सूक्ष्म शरीर 'सूक्ष्म' पंचमहाभूतों का बना हुआ है, अतः यह इन्द्रियग्राह्य नहीं होता है।

यह सूक्ष्मशरीर सत्रह अवयवों का बना हुआ है। जिसमें पांच प्राण, पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, मन और बुद्धि का समावेश होता है। पांच प्राण वह होते है, जिसकी वजह से हमारे शरीर के अन्तर्गत विविध क्रियाएं हो पाती है। जैसे सांस लेना और छोड़ना, खाना पचाना, मल विसर्जन की क्रिया, खून को विविध अंगों तक पहुचाना, तथा दूषित वायु को बाहर निकालना। यह समस्त कार्य के अनुरूप उसे क्रमशः प्राण, समान, अपान, व्यान और उदान नाम दिये जाते है। जगत् के बाह्य विषयों को ग्रहण करने के सामर्थ्य को ज्ञानेन्द्रियां कहते है। जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध को ग्रहण करने वाली क्रमशः श्रोत्र, त्वचा, आंख, रसना और घ्राण इन्द्रियां है। जगत् के प्रति अपनी प्रतिक्रिया को अभिव्यक्त करने वाली इन्द्रियों को कर्मेन्द्रियां कहते है। जो वाणी, पाद, हस्त, पायू और उपस्थ है, तथा उसके कार्य बोलना, गमन करना, वस्तु ग्रहण करना, मल त्याग करना, तथा प्रजोत्पत्ति आदि है। मन हमारी संकल्प-विकल्पात्मक वृत्तियां तथा विविध प्रकार की भावनात्मक वृत्तियों का नाम है। बुद्धि निश्चयात्मक तथा ज्ञान और अज्ञान रूप वृत्तिको कहा जाता है। एवं सत्रह अवयवों के संघात को ही सूक्ष्म शरीर कहा जाता है। इसी से हमें जीवन के विविध प्रकार के सुख, दुःख तथा बाह्य विषयों की अनुभूति हुआ करती है। इस प्रकार यह विविध प्रकार के भोग का साधन मात्र है।

यह सूक्ष्म पंचमहाभूत का बना हुआ होने के कारण जड़रूप है, विकारी है। संघात होने के कारण हम नहीं है, क्योंकि संघात सदैव अन्य के लिए हुआ करता है। किन्तु उसमें 'मैं' बुद्धि करने के द्वारा हम अपने आपको विकारी, सुखी, दुःखी आदि मानने लगते है। इन उपाधि की सीमाओं से अपने आपको सीमित मानने लगते है, और उसकी निवृत्ति के व्यर्थ प्रयासों में रत रहते हैं।

श्लोक - १४

संगति :- अपना सूक्ष्म शरीर सूक्ष्म पंचमहाभूत का बना है, और भोग का साधन है। उसमें 'मैं' बुद्धि रखने के कारण हम अपने आपको विकारी, सुखी, दुःखी आदि मानने लगते हैं, तथा उपाधि की सीमाओं को अपनी सीमा मानने लगते हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि इन स्थूल और सूक्ष्म शरीरों में इस प्रकार की गलत धारणा उत्पन्न करने के पीछे क्या कारण है। अतः आचार्यश्री हमें दोनों के कारणभूत 'कारण शरीर' का परिचय प्रदान कर रहे हैं।

अनाद्यविद्यानिर्वाच्या कारणोपाधिमुच्यते।
उपाधित्रितयादन्यम् आत्मानमवधारयेत्।।

अन्वयार्थ :- **अनिर्वाच्या** - अनिर्वचनीय, **अनादि** - आदि से रहित, **अविद्या** - अविद्या, **कारण** - कारण रूपा, **उपाधिम्** - उपाधि, **उच्यते** - कही जाता है, **आत्मानम्** - आत्मा को, **त्रितयाद उपाधि** तीनों उपाधि से, **अन्यम्** - अलग, **अवधारयेत्** - जानों ।

श्लोकार्थ :- अनिर्वचनीय और अनादि अविद्या ही कारण शरीर है। आत्मा इन तीनों शरीरों से अर्थात् इन उपाधियों से मुक्त है - यह निश्चय करो।

व्याख्या :- स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर में 'मैं' बुद्धि रूप गलत धारणा को समाप्त करने हेतु कितना भी उपर से प्रयास होता रहे, लेकिन यह प्रयास पूर्णरूप से सार्थक होता नहीं दिखाई पड़ता है। क्योंकि अनात्मा में आत्म-बुद्धि कार्यरूपा होती है। जब तक इस मोह के कारण की निवृत्ति नहीं होगी तब तक उपरोक्त प्रयास अस्थायी ही दिखाई पड़ते है। जैसे दूध में उबाल आने पर उसमें पानी का छींटा देकर शान्त करना कोई स्थायी समाधान नहीं होता है। किन्तु इस उबाल के 'कारण' रूप आग को शान्त कर दिया जाए तब यह 'कार्य' स्वतः ही सदैव के लिए शान्त हो जाता है। उसी प्रकार इस सन्दर्भ में भी समझना चाहिए।

अनात्मा में आत्म-बुद्धि रूपी मोह के कारण को 'कारण शरीर' कहा जाता है। यद्यपि यह कोई दृष्ट शरीर नहीं है तथापि यह ज्ञान के द्वारा नष्ट हो जाता है, अतः इसे शरीर कहा जाता है। इसका परिचय प्रदान करते हुए आचार्य कहते हैं कि यह 'कारण शरीर' अविद्या रूपी है, और अविद्या - अनिर्वचनीय और अनादि होती है। अनादि अर्थात् जिसका कोई आदि अर्थात् आरम्भ नहीं होता है। तथा अनिर्वचनीय इसलिए क्योंकि न तो उसके बारे में स्पष्ट रूप से वर्णन नहीं किया जा सकता है, और न ही उसे किसी सत् या असत् रूपी श्रेणी में वर्गीकृत किया जा सकता है। उसे 'वह है' ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसकी कोई शाश्वत सत्ता नहीं है। तथा 'नहीं है' यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसके कार्य दिख रहे है। अतः अविद्या अनिर्वचनीय होती है।

जब जब किसी विषय का अज्ञान होता है, तब तब कुछ न कुछ कल्पनाएं होने लगती हैं। 'हम क्या हैं' इस विषय का अज्ञान होने के कारण स्थूलादि उपाधियों में ही 'मैं पने' का अभिमान

होने लगता है, जो कि संसार का कारण बनता है। आचार्यश्री बताते है कि हम वस्तुतः यह स्थूलादि उपाधियां तथा उसके कारणभूत अज्ञान नहीं है। किन्तु इन सबसे विलक्षण प्रकाश स्वरूप आत्मतत्त्व ही है। जिसने अपने अज्ञान को निवृत्त करते हुए इस सत्य को जान लिया वह ही अनात्मा में आत्म-बुद्धि रूपी मोह को सदैव के लिए समाप्त करने में सक्षम हो जाता है, तथा दिव्य आत्मानन्द में रमते हुए मुक्त हो जाता है।

श्लोक - १५

संगतिः- आत्मा को तीनों शरीरों से पृथक अतः उनके धर्मों से मुक्त देखना चाहिए। इस विषय में प्रश्न होता है कि अगर आत्मा इन उपाधियों से अत्यन्त विलक्षण है, तो इन उपाधियों के धर्मों से युक्त होने की प्रतीति भी क्यों होती है। इसके लिए आचार्यश्री आत्मा के असंग धर्म का प्रतिपादन करते हुए उपरोक्त प्रश्न का एक बहुत सटीक दृष्टान्त से उत्तर देते हैं।

पंचकोशादियोगेन तत्तन्मय इव स्थितः।
शुद्धात्मा नीलवस्त्रादि योगेन स्फटिको यथा॥

अन्वयार्थ :- **यथा** - जैसे, **स्फटिकः** - स्फटिक, **नीलवस्त्रादि** - नीले वस्त्र आदि के **योगेन** - योग के कारण, **तत् तन्मय** - उस उस रंग का, **इव स्थितः** - प्रतीत होता है। वैसे ही, **शुद्धात्मा** - शुद्ध आत्मा, **पंचकोशादि** - पांच कोशों की, **योगेन** - सन्निधि **से, तत् तन्मय** - उनके जैसी, प्रतीत होती हैं।

श्लोकार्थ :- जिस प्रकार स्फटिक अपने समीपस्थ नील आदि वस्त्र के रंग के कारण नीला प्रतीत होता हैं, उसी प्रकार शुद्ध आत्मा पांच कोशों की सन्निधि के कारण उसके गुणों से युक्त प्रतीत होने लगती है।

व्याख्या :- आत्मा शुद्ध, चेतन स्वरूप सत्ता मात्र है। यह चेतन सत्ता ही अपनी भिन्न भिन्न स्थूलादि उपाधियों के माध्यम से अभिव्यक्त हो रही है। यह स्थूलादि उपाधियां जड़ एवं विकारी है। आत्मा में लेश मात्र भी जड़त्व या विकारीपना नहीं है, किन्तु आज हम सबका यह ही अनुभव हो रहा है कि हम विकारी है। भूख-प्यास, सुख-दुःख, जन्म-मरण, आदि समस्त विकारों से हम युक्त दिख रहे हैं। वस्तुतः हम (आत्मा) इन सबमें हैं तथापि इन सबसे विलक्षण भी है। आत्मा एक है, और वस्तुतः उसके अलावा और कुछ भी नहीं है। सृष्टि के समय प्रभु की माया अनेकों नाम एवं रूपों का विलास उत्पन्न करती है। इन समस्त नाम-रूपों को यह अजन्मा सत्ता ही आत्मवान करती है। वह असंग रहते हुए उन उपाधियों को व्याप्त करती है। चारों तरफ वह ही अपनी माया द्वारा निर्मित चोला पहन कर विद्यमान है। एक अज्ञानी को अज्ञान के कारण ही वह उपाधियों के धर्मों से युक्त दिखाई देती है।

आत्मा समस्त उपाधियों को व्याप्त एवं आत्मवान करते हुए भी असंग रहती है, यह कुछ विरुद्ध प्रतीत होता है, लेकिन आचार्य कहते हैं कि यह कोई अनहोनी नहीं है। हम सब 'स्फटिक' के सुन्दर पत्थर से तो परिचित ही हैं। वह अपनी सन्निधि में विद्यमान किसी भी रंगीन वस्त्रादि के रंग से युक्त दिखता है, पर हम सब जानते हैं कि वह कभी भी किसी रंग से युक्त अथवा लिप्त नहीं होता है। इस दृष्टान्त को सदैव याद रखना चाहिए, तथा अपने को स्फटिक तुल्य ही देखना चाहिए। सबको आत्मवान करते हुए भी सबसे असंग। कमल के फूल की तरह पानी में रहते हुए भी उससे अलिप्त। यह ही तत्व ज्ञान की महिमा है, दुनिया में रहें, समस्त अनुभूतियों का आनन्द

लें लेकिन फिर भी शुद्ध के शुद्ध, निर्मल। आत्मज्ञान हमें स्वस्थ रहकर जीवन का पूरा आनन्द लेना सिखाता है, न कि पलायन।

अपनी समस्त उपाधियों को पिछले श्लोक में तीन शरीर में विभाजित किया गया था, इस श्लोक में वे इन्हें पांच कोशों में विभाजित करते हैं। यह पांच कोश इस प्रकार से है - अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय। अभिप्राय दोनों का एक ही है-सभी उपाधियाँ।

श्लोक - १६

संगति :- असंग स्वरूप आत्मा स्फटिक की तरह अपनी सन्निधि में विद्यमान पंचकोशादि उपाधियों को आत्मवान करते हुए उनके धर्मों से लिप्त दिखती है। स्फटिक की तरह ही अपने आपको शुद्ध स्वरूप जानने के लिए आवश्यकता है - आत्म-अनात्म विवेक की। इसके लिए सावधानीपूर्वक विचार करने की आवश्यकता है। आत्मा को पंचकोशादि रूप अनात्मा से विवेक करके पृथक् कैसे किया जाय इसे आचार्यश्री दिखाते हैं।

वपुस्तुषादिभिः कोशैः युक्तं युक्त्यावघाततः।
आत्मानमन्तरं शुद्धं विविच्यात्तण्डुलं यथा॥

अन्वयार्थ :- **यथा** - जैसे, **तुषादिभिः** - छिलकों से **युक्तं** - युक्त, **तण्डुलं** - चावल को, **अवघाततः** - अलग किया जाता है। **तथा** - वैसे ही, **वपुः आदिभिः कोशैः** - शरीरादि कोशों से, **युक्तं** - युक्त, **शुद्धं** - शुद्ध, **आत्मानं** - आत्मा को, **युक्त्या** - युक्तिपूर्वक, **अनन्तरं** - पृथक्, **विविच्यात्** - विवेक करना चाहिए।

श्लोकार्थ :- शुद्धस्वरूप आत्मा को पंचकोशों से युक्तिपूर्वक विवेक के द्वारा वैसे ही पृथक् करना चाहिए, जैसे चावल को उसके छिलकों से पृथक् किया जाता है।

व्याख्या :- आत्मा अत्यन्त शुद्ध स्वरूप है। उनमें पंचकोशादि उपाधि के कोई भी विकार नहीं हैं। तथापि आत्मा विकारी प्रतीत हो रही है, यह अविवेक के कारण ही है। आत्मा का ज्ञान आत्म-अनात्म विवेक स्वरूप होता है। अपने व्यक्तित्व में इन आत्मा और अनात्मा दोनों का ही भान होता है। आत्मा वह है, जो वस्तुतः हम है, और अनात्मा उसे कहते है, जो हम नहीं है, किन्तु उसे हमने धारण सा किया हुआ है। यहां अविवेक उत्पन्न हो गया है कि जिसे हमने धारण किया है, उन उपाधियों को ही 'मैं' मान बैठे है। उसी कारण अपने बारे में क्षुद्रता की भावना जगती है, जो कि संसार का कारण बन जाती है। अविवेक से उत्पन्न समस्या विवेकपूर्वक ही निवृत्त की जा सकती है।

अपने बारे में विद्यमान धारणाओं के उपर विचार करके देखें कि हमारी वास्तविकता क्या है? उसके लिए स्थूल स्तर से आरम्भ करते हुए सूक्ष्म स्तर तक यात्रा की जाती है। सब से स्थूल और प्रत्यक्ष यह अन्नमय कोश है। उससे सूक्ष्म प्राणमय, तत्पश्चात् मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय इस क्रम से विद्यमान है। प्रत्येक कोश के धर्मों को देखें, समझें और युक्तिपूर्वक विचार करके यह निश्चय करें कि यह हम नहीं है। इसके लिए दृष्टा-दृश्य विवेक अत्यन्त सहायक होता है। जो जो धर्म दृश्य की तरह अनुभव में आते हैं, वह हम नहीं है। क्योंकि दृष्टा दृश्य से सदैव पृथक् होता है। जैसे जैसे विचारपूर्वक निश्चय होता जाता है, वैसे वैसे उन उन कोश से मुक्त होते जाते है।

अपने उपर से प्रत्येक कोश को उसी प्रकार से निवृत्त किया जाता है कि जैसे चावल को उसके छिलके से अलग किया जाता है। उस कार्य को बहुत सावधानी एवं एकाग्रता से करना पडता है। चावल को छिलके से अलग करके सार और असार का विवेक किया जाता है और चावल को ग्रहण करते हुए छिलके को त्याग दिया जाता है। उसी प्रकार अपने व्यक्तित्व की समस्त परतों में छिपे हुए सारभूत आत्म-तत्त्व को विवेकपूर्वक ग्रहण किया जाता है। यह ही हमारा सार है जिसमें उपाधि के विकार, दृश्यत्व, जड़त्व आदि कोई अशुद्धि नहीं है। इस प्रकार का विवेक ही अपूर्णता और उससे उत्पन्न सांसारिक भय से हमारी मुक्ति कर देता है।

श्लोक - १७

संगति :- यह आत्मा पूर्ण है, एवं सर्वत्र व्याप्त है। यद्यपि आत्मा सर्वात्मा है, तथापि सब उपाधिओं से मुक्त अपने स्वस्वरूप का भान सब को क्यों नहीं होता है? आचार्यश्री आगे के श्लोक में इस प्रश्न का समाधान देते है।

सदा सर्वगतोऽप्यात्मा न सर्वत्रावभासते।
शुद्धावेवावभासेत स्वच्छेषु प्रतिबिम्बवत्॥

अन्वयार्थ :- **आत्मा** - आत्मा **सदा** - सदैव, **सर्वगतः** - सब जगह, **अपि** - होने पर भी,**सर्वत्र** - सब जगह, **न अवभासते** - प्रकाशित नहीं होता हैं, **स्वच्छेषु** - स्वच्छ दर्पण में **प्रतिबिम्बवत्** - प्रतिबिम्ब की तरह, **शुद्धौ** - शुद्ध बुद्धि में, **अवभासेत** - प्रकाशित होती हैं।

श्लोकार्थ :- आत्मा यद्यपि सर्वव्यापक है, फिर भी सभी पदार्थों में उसका आभास नहीं होता है। इसका अनुभव शुद्ध बुद्धि में ही होता है। जैसे स्वच्छ दर्पण में ही प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है।

व्याख्या :- आत्म तत्त्व, नित्य और सर्वव्यापक है। वह समस्त नाम-रूपात्मक प्रपंच को व्याप्त करता है, तथा सब उपधियों को व्याप्त करते हुए सब की आत्मा की तरह से भी विराजमान है। यद्यपि समस्त शास्त्र इस तथ्य को प्रतिपादित करते हैं तथापि यह आत्मा हर जगह दिखती नहीं है।

हम लोग जो कुछ भी देखतें हैं वह सब अपनी इन्द्रियों से देखते हैं, अतः आदतवशात् यह मान बैठते हैं कि आत्मा भी विषयों की तरह इन्द्रियग्राह्य होगी। यह अपेक्षा मोहमूलक है, क्योकि इन्द्रियां तो केवल शब्द आदि विषयों को देखने के लिए ही बनाई गई हैं। इन्द्रियों से तो हमें अपने विचार और भावनाएं भी दिखाई नहीं पड़ती हैं, तो उनके दृष्टा को देखने की बात कैसे सम्भव होगी।

आत्मा तो सबके हृदय (बुद्धि) में स्वतः एवं सदैव स्फुरित होती रहती है। हम सब अपने 'अस्तित्व' को जानते भी है - यह ही आत्म-तत्व का ज्ञान है। अज्ञानी मनुष्य उसको कहा जाता है जो इस आत्मा को 'गलत' जानता है। आत्मा की स्फुरणा एवं यह सही-गलत ज्ञान बुद्धि में हो रहा है, अतः यह स्पष्ट है कि आत्मा का ठीक दर्शन एक प्रबुद्ध बुद्धि में ही होता है, अन्य जगह नहीं।

जब साधक अपनी बुद्धि को विविध साधनाओं से निर्मल बनाता है, और तदुपरान्त गुरु मुख से वेदान्त का श्रवण करता है, तब ही वह ज्ञान प्राप्त करके अपनी नित्य, सर्वव्यापक एवं पूर्णस्वरूपता को 'देख' लेता है।

इसे आचार्य यहां दर्पण के दृष्टान्त से समझाते हैं। जैसे दर्पण मलिन हो तो कोई वस्तु

सामने होने के बावजूद भी उसमें स्पष्ट दिखाई नहीं पड़ती है, किन्तु मलिनता से रहित शीशे में तत्काल दिख जाती है। उसी तरह से अपनी ब्रह्मस्वरूप आत्मा एक शुद्ध एवं प्रबुद्ध बुद्धि में अत्यन्त स्पष्ट दिख जाती है। हमें अपने किसी अन्य प्रकार के दर्शन की अपेक्षा को छोड़ देनी चाहिए।

श्लोक - १८

संगति :- अपनी ब्रह्मस्वरूप आत्मा शुद्ध एवं प्रबुद्ध बुद्धि में अत्यन्त स्पष्ट दिख जाती है। किन्तु इस बुद्धि के अन्दर और भी बहुत सी वृत्तियां विराजमान है। उन सब में आत्मा क्या है। अपनी इस सूक्ष्म एवं शुद्ध बुद्धि में आत्मा के दर्शन का क्या स्वरूप है? उस विषय का समाधान आगे के श्लोक में किया जा रहा है।

देहेन्द्रियमनोबुद्धि प्रकृतिभ्यो विलक्षणम्।
तद्वृत्तिसाक्षिणं विद्यात् आत्मानं राजवत्सदा॥

अन्वयार्थ :- **आत्मानं** - आत्मा को, **प्रकृतिभ्यः** - प्रकृति के कार्य, **देह-इन्द्रिय-मनो-बुद्धि विलक्षणम्** - शरीर, इन्द्रियां, मन और बुद्धि से विलक्षण, **तद् वृत्ति** - उन सब वृत्ति का, **साक्षिणं** - साक्षी, **सदा** - सदैव, **राजवत्** - राजा की तरह, **विद्यात्** - जानों।

श्लोकार्थ :- आत्मा को सदैव प्रकृति के कार्य शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि से विलक्षण इन सब के साक्षी एवं राजा की भांति ही जानें।

व्याख्या :- बुद्धि जिन जिन विषयों को प्रकाशित करती है, उन उन विषय की वृत्तियां बुद्धि में उत्पन्न होती है। उन वृत्तियों के अन्तर्गत अपने से पृथक् बाह्य समस्त विषय होते है। इसके अलावा हमारा यह स्थूल शरीर, समस्त इन्द्रियां, मन की भावनाएं, तथा बुद्धि के ज्ञान और अज्ञान का समावेश होता है। बाह्य विषयों से आरम्भ करते हुए बुद्धि तक के विषय प्रकृति के कार्य है। इन सब को बुद्धि प्रकाशित करती है। तथा इन सबको प्रकाशित करने वाली बुद्धि को प्रकाशित करने वाला जो है, वह आत्मा है। वह सदैव सभी अवस्थाओं में सम रहते हुए, अविकारी रूप से सब को प्रकाशित करता है। यह उनका साक्षित्व है। साक्षी का अर्थ होता है 'साक्षात् अव्यवधानेन ईक्षते', अर्थात् जो बिना किसी व्यवधान के घटना को निरपेक्ष रूप से एवं यथावत् प्रकाशित करता है।

आचार्यश्री इसके लिए राजा का दृष्टान्त देते है कि जैसे राजा कुछ नहीं करता है, किन्तु उनकी सन्निधि से समस्त प्रजाजन कार्य करते है। वैसे ही आत्मा किसी भी घटना में शामिल नहीं होता है, उनकी सन्निधि में सब कार्य सम्पन्न होते है और वह बिना किसी विकृति के उसे प्रकाशित करता है।

अपने आपको देह, इन्द्रिय, मन बुद्धि आदि का साक्षी जानें और यह देखें कि देहादि के विकार से हम विकारी नहीं हैं, हम उन सब को जानने वाले उसके प्रकाशक साक्षी विराजमान है। जो इस तरह अपने आपको जानता है, उसमें उपाधि के परिवर्तन, क्षय विकारादि से शोक उत्पन्न नहीं होता है।

श्लोक - १९

संगति :- आत्मा अर्थात् हम समस्त देहादि के कार्य एवं विकारों के साक्षी है। हम स्वयं कुछ भी नहीं करते है। उसके लिए आचार्यश्री ने एक राजा का दृष्टान्त भी दिया कि, जैसे राजा स्वयं कुछ भी नहीं करता है। उसी प्रकार हम कुछ भी नहीं करते है। यह तथ्य दिखाने के उपरान्त संशय होता है कि हम साक्षी स्वरूप ही है। यह बात कैसे सम्भव हो सकती है? क्योंकि आज का अनुभव तो यह ही दिखाता है कि हम ही कर्ता है। इस समस्या का समाधान अब आगे के श्लोक में आचार्य श्री स्वयं करते है।

व्यापृतेष्विन्द्रियेष्वात्मा व्यापारीवाविवेकिनाम्।
दृश्यतेऽभ्रेषु धावत्सु धावन्निव यथा शशी।।

अन्वयार्थ :- **अविवेकिनाम्** - अविवेकी के लिए, **आत्मा** - आत्मा, **व्यापृतेषु इन्द्रियेषु** - क्रिया करती इन्द्रियों के कारण, **व्यापारि** - क्रिया करती, **इव** - हुई सी, **दृश्यते** - प्रतीत होती हैं, **यथा** - जैसे, **धावत्सु** - दौड़ते हुए, **अभ्रेषु** - बादलों की वजह से, **शशी** - चन्द्रमा, **धावन् इव** - दौड़ता हुआ सा, **दृश्यते** - प्रतीत होता हैं।

श्लोकार्थ :- अविवेकी जनों को आत्मा अक्रिय होने पर भी इन्द्रियादि की क्रिया को देखकर आत्मा ही क्रियावान प्रतीत होती है। जैसे भागते हुए बादलों के मध्य में स्थित चन्द्रमा भी भागता हुआ सा प्रतीत होता है।

व्याख्या :- इन्द्रिय आदि अपने अपने व्यापार में प्रवृत्ति करते है। ज्ञानेन्द्रियां शब्दादि विषयों को ग्रहण करती है। तथा कर्मेन्द्रियां जगत् के प्रति बोलना, चलना आदि के रूप में अपनी प्रतिक्रियाएं व्यक्त करती है। प्राण के कारण भोजनादि कार्य होता है। इन समस्त के कार्य कलाप को देखते हुए ऐसा ही प्रतीत होता है कि 'मैं ही कर रहा हूँ।' किन्तु जो प्रतीत होता है, वह सत्य होना आवश्यक नहीं है। इस लौकिक जगत् में भी ऐसी घटनाएं देखी जाती है।

इसके लिए आचार्यश्री दृष्टान्त देते है कि जैसे बादलों के बीच चन्द्रमा स्थिर होता हुआ भी दौड़ता हुआ सा प्रतीत होता है, और भागते हुए बादलों में स्थिर होने का भास होता है। इसे अन्योन्य अध्यास कहा जाता है। जहां एक वस्तु के धर्म को दूसरी वस्तु पर आरोपित कर दिया जाता है। यहां पर भी साक्षी स्वरूप आत्मा न तो कुछ करता है, और न ही करवाता है, उसके उपर इन्द्रियादि के धर्मों का अध्यास किया जाता है। जिसके कारण इन्द्रियादि के क्रियाकलापों के प्रति 'मैं ही कर रहा हूं।' यह अभिमान होने लगता है। तथा उसके विकारों को आत्मा में ही मान लिया जाता है।

जब तक उपरोक्त अभिमान रहता है, तब तक हम पाप-पुण्य, सुख-दुःखादि के भोक्ता भी बने रहते है। अतः अपने अन्तर्गत साक्षीभाव को दृढ़ करते हुए यह देखना आवश्यक है कि समस्त उपाधि अपने अपने कार्य में वर्तन कर रही है, हम उसके साक्षी हैं, सबसे असंग है।

श्लोक - २०

संगति :- आत्मा स्वयं अविक्रिय है, और समस्त कार्यकलाप इन्द्रिय आदि उपाधि के माध्यम से हो रहे हैं। किन्तु अज्ञान वशात् इन सब की चेष्टा का आरोपण आत्मा के उपर कर लिया जाता है, और स्वयं को कर्ता भोक्ता जीव मान लिया जाता है।

इससे यह संशय उठता है कि अगर आत्मा स्वयं कर्ता नहीं है, तो उसे कारयिता तो अवश्य ही होना चाहिए। आचार्यश्री आगे के श्लोक में एक सुन्दर दृष्टान्त से बताते हैं, कि न तो आत्मा स्वयं कुछ करती है, और न ही किसी अन्य से करवाती है।

आत्मचैतन्यमाश्रित्य देहेन्द्रियमनोधियः।
स्वक्रियार्थेषु वर्तन्ते सूर्यलोकं यथा जनाः॥

अन्वयार्थ :- **यथा** - जैसे, **सूर्यलोकं** - सूर्य को देखकर, **जनाः** - मनुष्य, **स्वक्रियार्थेषु** - अपने कर्मों में, **वर्तन्ते** - प्रवृत्त होता हैं, **तथा** - वैसे ही, **आत्म चैतन्यम्** - आत्म चैतन्य का, **आश्रित्य** -का आश्रय लेकर, **देह इन्द्रिय मनो धियः** - देह, इन्द्रियां, मन और बुद्धि।

श्लोकार्थ :- आत्म चैतन्य का आश्रय लेकर जड़ होते हुए भी देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदि उसी प्रकार से अपनी अपनी क्रियाएं करती है, जैसे सूर्य की सन्निधि से समस्त मनुष्य अपने अपने कर्म में प्रेरित होते है।

व्याख्या :- शरीर, मन बुद्धि इन्द्रिय आदि समस्त उपाधियां पंचमहाभूत की बनी हुई हैं, अतः वे सब जड़ है। और जड़ पदार्थ अपने आप में स्वतः कुछ भी कार्य करने में समर्थ नहीं होते हैं, तथापि वे क्रियावान दिखाई पड़ती है। चेतनता की सन्निधि मात्र से ही जड़ वस्तु कार्य करने में समर्थ हो जाती है। चेतन स्वरूप आत्मा स्वतः न कुछ करती है और नहीं करवाती है। वह अपनी चेतन स्वरूपता में स्थित रहती है, और जो भी उसकी सन्निधि में आता है उसे स्फूर्ति प्रदान कर देती है। यह कार्य ठीक उसी तरह से होता है, जैसे सूर्य के उदित होते से ही समस्त प्रकृति स्फूर्ति से युक्त हो जाती है। फूल खिलने लगते है, चिड़ियां चहकने लगती हैं। समस्त सुप्त लोग जग कर कार्य में प्रवृत्त हो जाते है। चारों ओर जीवन्तता का संचार सा होने लगता है। इन समस्त चेष्टाओं में सूर्य स्वयं न कुछ करता है और न हीं कुछ करवाता है। किन्तु उनकी सन्निधि मात्र से ही समस्त कार्य होने लगते है।

ठीक उसी प्रकार हम चेतन स्वरूप आत्मा की सन्निधि में सब कार्य होते है। आत्मा इन सबसे असंग विराजमान रहती है। अतः समस्त क्रियाकलाप के अन्तर्गत अपने आपको अकर्ता एवं अकारयिता समझना चाहिए। अपने स्वरूप को इस प्रकार जानने से अपने उपर से कर्ता एवं भोक्तापने के बोझे से मुक्त होने लगते है। कर्तापने आदि के बोझे से मुक्त होने पर समस्त चिन्ता, शोक आदि से मुक्त होने लगते है। इस सन्दर्भ में यह ध्यान रखना चाहिए कि हमें अपने अकर्तापने आदि के ज्ञान हेतु शरीर को निष्क्रिय बनाने कि आवश्यकता नहीं होती है, बल्कि हमें अपनी विविध क्रियाओं के मध्य में एक असंग एवं अलिप्त सत्ता को पहिचानना है।

श्लोक - २१

संगति :- वस्तुतः हम चेतन स्वरूप है, और हमारी सन्निधि में सब कार्य होते है। हम इन सबसे असंग है। अतः समस्त क्रियाकलाप के अन्तर्गत हमें अपने आपको अकर्ता एवं अकारयिता ही समझना चाहिए। तथापि जो अविवेकी हैं, वे अपने इस अविवेक के कारण इन्द्रिय आदि अनात्म पदार्थ के गुण और कर्मों को अपने उपर आरोपित कर लेते है। इस तथ्य को आचार्यश्री अगले श्लोक में दिखाते हैं

देहेन्द्रियगुणान्कर्माणि अखिले सच्चिदात्मनि।
अध्यस्यन्त्यविवेकेन गगने नीलतादिवत्॥

अन्वयार्थ :- **अविवेकेन** - अविवेक के कारण ही, **गगने** - आकाश में, **नीलतादिवत्** - नीलिमा की तरह, **देह इन्द्रिय गुणान् कर्माणि** - देह, इन्द्रियां के गुण और कर्मों को, **अखिले** - पूर्ण, **सच्चिदात्मनि** - सच्चिद् स्वरूप आत्मा में, **अध्यस्यन्ति**- आरोपित किया जाता हैं।

श्लोकार्थ :- अविवेकी जन अज्ञानवशात् मन और इन्द्रियों के कार्यकलापों को सच्चिदानन्द आत्मा पर अध्यस्त कर देते है, जैसे आकाश में दीखाई पड़ने वाली नीलिमा को अज्ञानी लोग आकाश का ही रंग मान लेते हैं।

व्याख्या :- पिछले कुछ श्लोकों में आचार्यश्री अध्यास का प्रतिपादन कर रहे हैं। अध्यास वह होता है - जहां अविवेक के कारण एक के धर्म अन्य के उपर आरोपित कर दिये जाते हैं। आत्मा सब से असंग, अविकारी तथा सच्चिदानन्द स्वरूप है। आत्मा सत् स्वरूप है अर्थात् भूतादि तीनों कालों में है, अतः जन्मादि समस्त विकारों से रहित है। चित् स्वरूप है, अर्थात् किसी अन्य के द्वारा प्रकाशित होने वाली जड़ वस्तु नहीं है, तथा आनन्द स्वरूप अर्थात् साक्षात् आनन्द है, न हि आनन्द का भोक्ता। इस तथ्य को न जानने वाले लोग अज्ञानवशात् उस पर देह, इन्द्रिय आदि उपाधि के धर्मों का अध्यास कर देते हैं। परिणाम स्वरूप वे यह मान बैठते हैं, कि हम जन्मादि विकारों से युक्त है। उपाधि के समस्त कार्यकलाप को देख कर हम ही करने और भोगने वाले है, तथा हमें विषयों के भोग के माध्यम से आनन्द प्राप्त करना है यह मान लेते है। वस्तुतः आत्मा इन समस्त विकल्पों से रहित है। इस प्रकार का अध्यास अविवेक के कारण ही होता है। जैसे अज्ञानी बालक आकाश की नीलिमा को देखकर उसे आकाश का ही रंग मान लेता है। वस्तुतः आकाश का कोई भी वर्ण नहीं है अतः कभी नीला तो कभी लाल आदि दिखाई पड़ता है।

आत्मा में अविवेक के कारण किया गया अध्यास ही समस्त संसार का कारण बनता है। अतः संसार की निवृत्ति कर परिपूर्णता की अवस्था में जगने के लिए गुरु के चरणों में बैठ कर शास्त्र के ज्ञान की प्राप्ति द्वारा विवेक जगाना ही एक मात्र साधन है। विवेक के आते ही अविवेक जनित अध्यास समाप्त हो जाता है, और इसके साथ ही समस्त बन्धन भी समाप्त हो जाते है।

श्लोक - २२

संगतिः- आत्मा शरीर, इन्द्रियादि समस्त के धर्मों से रहित है। अज्ञान एवं अविवेक के कारण अध्यास हो जाता है। जैसे अज्ञानी बालक रंग विहीन आकाश में नीलिमा को देखकर उसे आकाश का ही रंग मान लेता है। आत्मा में किया गया यह अध्यास ही समस्त संसार का कारण बनता है। यहां पर प्रश्न होता है कि हम शरीर और इन्द्रियों को पृथक् मान भी लें तब भी मन में कर्तृत्व आदि तो स्वाभाविक ही है। कर्तृत्व आदि के रहते हुए हम परिच्छिन्नता से कैसे मुक्त हो सकते है? इस प्रश्न का समाधान आचार्यश्री आगे के श्लोक में करते हैं।

अज्ञानान्मानसोपाधेः कर्तृत्वादीनि चात्मनि।
कल्प्यन्तेऽम्बुगते चन्द्रे चलनादि यथाम्भसः॥

अन्वयार्थ :- **अज्ञानात्** - अज्ञान के कारण ही, **मानस उपाधेः** - मन आदि उपाधियों का, **कर्तृत्वादीनि** - कर्तृत्व आदि, **आत्मनि** - आत्मा में कल्पित किया जाता हैं। **यथा** - जैसे, **अम्बुगते** - पानी में प्रतिबिम्बित, **चन्द्रे** - चन्द्रमा में, **अम्भसः** - पानी की, **चलनादि** - चंचलता को।

श्लोकार्थ :- जैसे अज्ञान के कारण जल की चंचलता आदि को उसमें प्रतिबिम्बित चन्द्रमा की मान ली जाती है, इसी तरह मन के कर्तापन आदि उपाधियां अज्ञानवशात् आत्मा के गुण मान लिये जाते है।

व्याख्या :- हम साक्षी स्वरूप आत्मा शरीर, इन्द्रियां आदि के धर्मों से रहित है। शरीर तो जीव के रहने का एक स्थान मात्र ही है, तथा इन्द्रियां उसके लिए करण है। किन्तु इनके धर्मों को अपने धर्म मान लेना ही अपने उपर परिच्छिन्नता का आरोपण करना होता है। यदि इन्द्रियां करण है, तो हम ही कर्ता है। यह बात आज हमें अनुभव भी होती है कि हम ही कर्ता है। किन्तु यह तब तक ही दिखती है जब तक उसके उपर विचार कर के देखा नहीं है। यदि विचार करके देखे तो हमें यह कल्पित मात्र दिखने लगती है।

आचार्य श्री इसे चन्द्रमा के प्रतिबिम्बि के दृष्टान्त से समझाते हैं, कि जैसे एक बाल्टी में जल है, और उस जल में चन्द्रमा का प्रतिबिम्बि पड़ता है। जब बाल्टी में किसी प्रकार की थिरकन आदि से पानी हिलता है, तो ऐसा दिखता है कि उसमें प्रतिबिम्बित चन्द्रमा में भी कम्पन उत्पन्न हो रहा है। उससे जल की चंचलता को चन्द्रमा के उपर आरोपित किया जाता है। उसी प्रकार हमारे मन रूपी जल में उत्पन्न वृत्तियों से चन्द्रमा स्थानीय साक्षी को विक्षेप से युक्त मान लिया जाता है।

कर्तापन की वृत्ति कब जगती है, यह विचार करने पर दिखाई पड़ता है कि सुषुप्ति अवस्था में हम किसी प्रकार के कर्ता नहीं होते है। जगने के उपरान्त ही अपने उपर कर्तापन आरोपित कर लेते है। अर्थात् जब मन अस्तित्व में आता है, तब ही कर्तापने की वृत्ति का अनुभव होता है। कर्तापन हमारे मन के अन्तर्गत की एक वृत्ति मात्र है, जो हमारे मन के अस्तित्व में आने के साथ ही उदित होती है, तथा उसके अभाव में नहीं रहती है। जब हम स्वयं को साक्षी स्वरूप नहीं जानते हैं, तब इस कर्तापन के धर्मों को अपने उपर आरोपित कर देते है। अपने उपर कर्तापने का आरोपण मात्र अज्ञानवशात् ही है, न कि वास्तविक रूप से। अतः अज्ञान की निवृत्ति के द्वारा हम कर्तापन से उत्पन्न छोटे़पन आदि की समस्याओं से मुक्त हो सकते हैं। इस अज्ञान की निवृत्ति ही एक मात्र मुक्ति का उपाय है। यह अज्ञान की निवृत्ति गुरु के चरणों में बैठ़कर शास्त्र के श्रवण, मनन आदि से ही हो सकती है।